Journal of Advances in Developmental Research (IJAIDR)

E-ISSN: 0976-4844 ● Website: www.ijaidr.com ● Email: editor@ijaidr.com

सूरदास और कृष्ण भक्ति परम्परा एक दार्शनिक अध्ययन

डॉ. वंदना

असिस्टेंट प्रोफेसर, हिंदी,
राजकीय महिला महाविद्यालय बदायूं

भारतीय साहित्य एवं संस्कृति में दर्शन का अर्थ केवल एक बौद्धिक व्यायाम अथवा तार्किक विमर्श तक सीमित नहीं रहा है बल्कि इसे एक ऐसी साक्षात 'दृष्टि' के रूप में स्वीकार किया गया है जो सत्य के मर्म तक पहुँचाने में समर्थ हो। दर्शन शब्द की व्युत्पत्ति दृश्य धातु से करण अर्थ में ल्युट प्रत्यय लगाकर हुआ है इसका अर्थ होता है जिसके द्वारा देखा जाए यह देखना यह देखना प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों तरह से होता है। यहाँ देखने का तात्पर्य केवल भौतिक चक्षुओं से दृश्यों को ग्रहण करना नहीं है अपितु अंतश्चक्षुओं द्वारा उस परम तत्व का मनन और साक्षात्कार करना है जो सृष्टि के कण-कण में व्याप्त है। इसी दार्शनिक पृष्ठभूमि में जब हम मध्यकालीन भक्ति आंदोलन के शिखर कवि सूरदास और उनकी कृष्ण भक्ति परंपरा का अध्ययन करते हैं तो हमें दर्शन और काव्य का एक ऐसा अपूर्व समन्वय प्राप्त होता है जो शुष्क वेदान्त को प्रेम की सगुण रसधारा में प्रवाहित कर देता है। भारतीय काव्यकारों ने जब काव्य का सृजन किया तो उनका उद्देश्य केवल मनोरंजन मात्र नहीं था अपितु उसमें धर्म, अधर्म, तत्वज्ञान और पुरुषार्थ के गंभीर प्रश्नों को समाहित करना था। सूरदास का साहित्य इसी परंपरा की एक गौरवशाली कड़ी है जहाँ दर्शन केवल सिद्धांतों में बंद नहीं रहता बल्कि भक्ति के विभिन्न रसों के माध्यम से जनमानस के हृदय तक पहुँचता है।

दर्शन की प्रक्रिया दो प्रकार की मानी गई है एक द्रष्टा जो नित्यद्रष्टि है और दूसरा अंतःकरण जो इंद्रियों के साथ संबंध स्थापित कर दर्शन का लौकिक और पारलौकिक अर्थ सिद्ध करता है। सूरदास के संदर्भ में यह दार्शनिक प्रक्रिया और भी विलक्षण प्रतीत होती है क्योंकि उन्होंने अपने भौतिक नेत्रों के अभाव के बावजूद अपने अंतःकरण की शक्ति से उस 'अगोचर' और 'अनंत प्रभाव' वाले ब्रह्म का ऐसा सजीव चित्रण किया जो चक्षु वाले कवियों के लिए भी दुष्कर था । उनके लिए दर्शन वह विधा थी जिसके द्वारा तत्व, ज्ञान और आचार संबंधी विषयों का अध्ययन करके संसार का वास्तविक ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। इसी विचारधारा को आधार बनाकर सूरदास ने 'सूरसागर' जैसे महाकाव्य की रचना की जो न केवल भक्ति काव्य ग्रंथ है बल्कि एक गंभीर दार्शनिक काव्य सरिता है।

कृष्ण भक्ति परंपरा का ऐतिहासिक और वैचारिक विकास अत्यंत प्राचीन काल से ही भारतीय संस्कृति का अभिन्न अंग रहा है। इस परंपरा की जड़ें वेदों में खोजी जा सकती हैं जहाँ ऋग्वेद के अष्टम और दशम मंडल में कृष्ण ऋषि का उल्लेख मिलता है जो मंत्रद्रष्टा ऋषि के रूप में प्रतिष्ठित थे । छान्दोग्य उपनिषद में उन्हें देवकी-पुत्र और घोर आंगिरस का शिष्य बताया गया है जहाँ उन्होंने अपने गुरु से उस ब्रह्म विद्या की दीक्षा ली थी जो जीवन के अंतिम सत्य को उद्घाटित करती है । महाभारत काल तक आते-आते कृष्ण का व्यक्तित्व एक महान राजनीतिज्ञ, योद्धा और उपदेशक से विकसित होकर साक्षात परब्रह्म और अवतार के रूप में स्थापित हो गया। भीष्म पितामह ने उन्हें 'परब्रह्म' के रूप में स्वीकार किया और महाभारत के युद्ध क्षेत्र में उन्होंने अर्जुन को जो गीता का उपदेश दिया वह कृष्ण भक्ति परंपरा का सबसे सुदृढ़ दार्शनिक स्तंभ बना । पुराण काल में विशेषकर श्रीमद्भागवत पुराण में कृष्ण के स्वरूप को एक नया आयाम मिला जहाँ उनकी बाल-लीलाओं और रसिक रूप को केंद्र में रखकर भक्ति के विभिन्न स्वरूपों का प्रतिपादन किया गया। सूरदास ने इसी भागवत परंपरा को अपना आधार बनाया और वल्लभाचार्य के सान्निध्य में उसे एक सुव्यवस्थित दार्शनिक ढांचे में ढाला ।

सूरदास के काव्य दर्शन का सबसे महत्वपूर्ण आधार आचार्य वल्लभाचार्य द्वारा प्रतिपादित 'शुद्धाद्वैत' मत है। यह दर्शन शंकराचार्य के केवलाद्वैतवाद की उस धारणा का खंडन करता है जहाँ जगत को 'माया' के प्रभाव से मिथ्या या भ्रम माना गया है । वल्लभाचार्य का मानना था कि ब्रह्म पूर्णतः शुद्ध है और माया के संबंध से रहित होने के कारण ही वह अद्वैत है। उनके अनुसार यह जगत ब्रह्म का ही एक वास्तविक विस्तार है इसलिए इसे मिथ्या कहना ब्रह्म की शक्ति का अपमान करना है । वल्लभ मत में ब्रह्म को सत्-चित्-आनंद के रूप में स्वीकार किया गया है जहाँ वह अपनी इच्छा से स्वयं को अनेक रूपों में प्रकट करता है। इस सिद्धांत को 'अविकृत परिणामवाद' कहा जाता है जिसका अर्थ है कि जैसे सोने से बने आभूषण के रूप में सोना अपना मूल स्वरूप नहीं खोता वैसे ही ब्रह्म जगत और जीव के रूप में प्रकट होकर भी अपने शुद्ध और विकृति-रहित स्वरूप में बना रहता है । सूरदास ने अपने पदों में इसी परब्रह्म पूर्ण पुरुषोत्तम का गान किया है जो शोभा में अमित, अपार और अखंडित है तथा सब विधि से पूर्णकाम है ।

वल्लभाचार्य ने शुद्धाद्वैत दर्शन के व्यावहारिक और साधन पक्ष के रूप में 'पुष्टिमार्ग' की नींव रखी। 'पुष्टि' शब्द का दार्शनिक आधार भागवत पुराण के सूत्र 'पोषणं तदनुग्रहः' में निहित है जिसका तात्पर्य है कि भगवान का अनुग्रह या कृपा ही जीव का वास्तविक पोषण और कल्याण है । पुष्टिमार्ग एक ऐसा साधन-विहीन मार्ग है जहाँ भक्त केवल ईश्वर की कृपा पर निर्भर रहता है। इसमें यह माना जाता है कि जीव अपने पुरुषार्थ, कर्म या कठिन योग-साधना से ईश्वर को प्राप्त नहीं कर सकता बल्कि जब ईश्वर स्वयं भक्त पर अनुग्रह करते हैं तभी उसे सच्ची भक्ति और सामीप्य की प्राप्ति होती है । पुष्टिमार्ग में सेवा के दो मुख्य भेद हैं नाम-सेवा और स्वरूप-सेवा। स्वरूप-सेवा के अंतर्गत मानसी सेवा को सर्वोच्च माना गया है जहाँ भक्त का मन पूरी तरह से भगवान की लीलाओं में तन्मय हो जाता है । सूरदास की भक्ति इसी मानसी सेवा की उत्कृष्ट मिसाल है जहाँ वे कृष्ण की बाल-क्रीड़ाओं और रास-लीलाओं को अपने अंतर्मन में साक्षात अनुभव करते हैं। पुष्टिमार्ग में भक्तों को भी उनके स्वभाव के अनुसार तीन श्रेणियों में बांटा गया है प्रवाह जीव जो सांसारिकता के प्रवाह में बहते रहते हैं। मर्यादा जीव जो वेदों की विधियों और कर्मकांडों का पालन करते हैं और पुष्टि जीव जो केवल भगवान के प्रेम और अनुग्रह के आकांक्षी होते हैं । सूरदास का काव्य इसी पुष्टि जीव की चरम अवस्था को प्रदर्शित करता है।

चकई री चली चरन सरोवर,
जहां न प्रेम वियोग।
जहं भ्रम निशा होत नही कबहुं ,
सोइ सायर सुख जोग।

सूरदास के पदों में सृष्टि की उत्पत्ति और ब्रह्मांड के दार्शनिक स्वरूप का बड़ा ही सूक्ष्म वर्णन मिलता है। वे सृष्टि को ईश्वर की लीला का एक भाग मानते हैं। सूरसागर के अनुसार आदि में केवल निराकार और निरंजन ब्रह्म था जिसके मन में सृष्टि के विस्तार की इच्छा जाग्रत हुई। इस अवसर पर उन्होंने स्वयं को सगुण रूप में प्रकट किया और 'हरि पुरुष अवतार' के माध्यम से सृष्टि का सृजन किया । इस प्रक्रिया में त्रिगुणमयी प्रकृति सत्, रज, तम से 'महत्तत्व' और फिर 'अहंकार' की उत्पत्ति होती है, जिससे पंचमहाभूतों आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी और मन-इंद्रियों का विस्तार होता है। सूरदास का यह सृष्टि विज्ञान सांख्य दर्शन के करीब होते हुए भी भक्ति की सरलता से ओत-प्रोत है। वे संसार और जगत में एक सूक्ष्म अंतर भी स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार 'जगत' ब्रह्म की शक्ति का वास्तविक विस्तार है और सत्य है जबकि 'संसार' जीव की अहंता और ममता का परिणाम है जो अविद्या के कारण उत्पन्न होता है और जीव को मोह के बंधन में बांधता है ।

जीवात्मा और मानव देह के संबंध में सूरदास ने अत्यंत गंभीर दार्शनिक चिंतन प्रस्तुत किया है। वे देह को एक 'दस द्वार' वाले नगर के रूप में चित्रित करते हैं जिसमें जीवात्मा निवास करती है । इस देह रूपी पुर में अविद्या रानी का शासन है और इंद्रियाँ उसकी दासियों के समान हैं जो जीव को बाहरी विषयों में उलझाए रखती हैं। जीवात्मा जो वास्तव में ब्रह्म का अंश है अपनी अज्ञानता के कारण इस नश्वर शरीर को ही सब कुछ मान लेती है । सूरदास मनुष्य को सचेत

करते हैं कि यह शरीर 'जल के बुदबुद' के समान क्षणभंगुर है और यहाँ कोई भी वस्तु स्थायी नहीं है। वे 'कस्तूरी मृग' का सटीक उदाहरण देते हुए समझाते हैं

सब्दहि सब्द भयौ उजियारौ,
सतगुरु भेद बतायौ।
ज्यौ कुरंग नाभी कस्तूरी,
ढूंढत फिरत भुलायौ।

जैसे मृग अपने ही भीतर स्थित सुगंध को बाहर वन-वन ढूंढता है वैसे ही जीव अपने भीतर छिपे ईश्वर को तीर्थों और शास्त्रों में खोजता फिरता है। जीव की मुक्ति तभी संभव है जब वह सतगुरु के माध्यम से अविद्या के परदे को हटाकर अपने मूल स्वरूप को पहचान ले और भगवान के चरणों में पूर्ण आत्म-समर्पण कर दे।
राम ही राम पढ़ी रे साईं,
राम ही जंह तंह होत सहाई।
इहां कोउ काहू की नाही,
रिन संबंध मिलन जग माही।

सूरदास की भक्ति भावना का विकास 'दैन्य' से शुरू होकर 'सख्य' और 'माधुर्य' की पराकाष्ठा तक पहुँचता है। वल्लभाचार्य से मिलने से पूर्व वे अपने पदों में अत्यंत दीनता और विनीत भाव प्रदर्शित करते थे जहाँ वे स्वयं को पापों की गठरी लादे हुए एक दुर्बल जीव के रूप में देखते थे । परंतु वल्लभाचार्य ने उन्हें 'गिड़गिड़ाने' या रोने-धोने वाली भक्ति के स्थान पर भगवान की आनंदमयी लीलाओं का गान करने का निर्देश दिया । इसके पश्चात सूरदास ने कृष्ण को अपना सखा माना और उनके साथ बराबरी के धरातल पर हंसी-ठिठोली और स्नेहपूर्ण संवादों की रचना की। सख्य भाव की यह भक्ति जीव और ब्रह्म के बीच की उस दूरी को पाट देती है जो केवल ऐश्वर्य भाव से बनी रहती है । सूरदास के काव्य में कृष्ण केवल एक राजा या न्यायाधीश नहीं हैं बल्कि वे एक ऐसे मित्र हैं जो सुदामा जैसे दरिद्र सखा के लिए स्वयं नंगे पांव दौड़ पड़ते हैं।

वात्सल्य रस के क्षेत्र में सूरदास का योगदान अद्वितीय है और उन्हें वात्सल्य रस का सम्राट माना जाना पूरी तरह तर्कसंगत है । उन्होंने बाल-कृष्ण की सूक्ष्म क्रियाओं जैसे घुटनों के बल चलना, मुख पर दही का लेप लगाना, यशोदा मैया से हठ करना और दाऊ (बलराम) की शिकायत करना जैसी बाल लीलाओं का का ऐसा सजीव वर्णन किया है कि पाठक स्वयं को गोकुल के आंगन में अनुभव करने लगता है । दार्शनिक स्तर पर यह वात्सल्य वर्णन इस सत्य की स्थापना करता है कि परब्रह्म भी अपने भक्त के प्रेम के अधीन होकर एक साधारण बालक की भांति व्यवहार करता है । जब साक्षात परब्रह्म माता यशोदा के ऊखल से बंध जाते हैं तो यह सगुण भक्ति की उस शक्ति को दर्शाता है जो ब्रह्म की निर्गुणता और अगम्यता को प्रेम के पाश में बांध लेती है । सूरदास ने केवल बालक्रीड़ा का ही चित्रण नहीं किया बल्कि माता के हृदय की मनोवैज्ञानिक अवस्थाओं और उनकी चिंता-आकुलता का भी मर्मस्पर्शी विवरण दिया है ।

इहि अंतर अकुलाई उठे हरि,
जसुमति मधुरै गावै।
जो सुख सूर अमर मुनि दुरलभ।
सो नंद भामिनी पावै।

सूरसागर का 'भ्रमरगीत' प्रसंग भारतीय दर्शन और साहित्य का एक उत्कृष्ट संगम है जहाँ ज्ञान और भक्ति का सघन द्वंद्व देखने को मिलता है । इसमें उद्धव निर्गुण ब्रह्म और योग-साधना के प्रतीक के रूप में गोकुल आते हैं और गोपियों को निर्गुण की उपासना का उपदेश देते हैं। गोपियाँ अपनी सहज बुद्धि और प्रेम-अनुभूति के बल पर उद्धव के शुष्क

ज्ञान का खंडन करती हैं। वे पूछती हैं कि "निर्गुण कौन देस को बासी?" उनका यह तर्क अत्यंत व्यावहारिक है कि जिस ब्रह्म का कोई रूप, गुण, माता-पिता या रहने का स्थान नहीं है उस पर मन कैसे रमाया जा सकता है । वे योग और निर्गुण के मार्ग को 'कंटकाकीर्ण' और 'नीरस' बताती हैं जबकि सगुण भक्ति को एक सीधा और सरल 'राजपथ' मानती हैं । सूरदास ने यहाँ यह स्थापित किया है कि ज्ञान मार्ग का अभ्यासी विश्व से अपनी वृत्तियों को समेटकर अंतर्मुखी और रहस्यवादी हो जाता है जबकि भक्ति मार्ग का साधक विश्व के कण-कण में अपने आराध्य के दर्शन करता है । भ्रमरगीत का अंत ज्ञान पर प्रेम की और निर्गुण पर सगुण की विजय के साथ होता है, जहाँ अंततः ज्ञानी उद्धव भी गोपियों की प्रेम-भक्ति के रंग में रंग जाते हैं ।

निर्गुण कौन देस कौ वासी
को है जनक जननी को *काहियत,कौन नारी को दासी,*
कैसे बरन भेष है कैसो केहि *रस में अभिलाषी।*

भक्ति की इस परंपरा में सूरदास ने सामाजिक समानता और मानवीय मूल्यों को सर्वोपरि रखा। उनके काव्य में जाति-पांति, वर्ण और कुल का कोई भेदभाव नहीं मिलता । पुष्टिमार्ग का यह संदेश था कि भगवान का अनुग्रह सबके लिए सुलभ है चाहे वह शूद्र हो या उच्च कुलीन। सूरदास ने अपने पदों में प्रभु के उस स्वरूप का चित्रण किया जो दीनों और दलितों के उद्धारक हैं । मध्यकालीन सामंती व्यवस्था में नारी की स्थिति अत्यंत पराधीन थी परंतु सूरदास ने गोपियों के माध्यम से नारी को एक साहसी और स्वतंत्र व्यक्तित्व प्रदान किया। उनकी गोपियाँ अपने अधिकारों के लिए लड़ती हैं, उद्धव को तर्कों से परास्त करती हैं और सामाजिक मर्यादाओं की परवाह किए बिना कृष्ण के प्रति अपने प्रेम को स्वीकार करती हैं । यह नारी अस्मिता और सामाजिक विद्रोह का वह स्वर था जिसने मध्यकालीन आडंबर युक्त समाज को झकझोरने का कार्य किया।

मातु पिता पति बंधु सुजन नहि,
तिनहु को कहिबौ सिर धारयौ।
रही ना लोक लाज मुख निखरत,
दुसह क्रोध फिकौ करि डारयौ।

सूरदास, तुलसीदास और मीराबाई की भक्ति में सामान दार्शनिक विशिष्टता और स्पष्ट हो जाती है। तुलसीदास की भक्ति जहाँ 'दास्य भाव' और 'मर्यादा' पर आधारित थी वहीं सूरदास की भक्ति 'सख्य' और 'स्वच्छंदता' की पक्षधर थी । तुलसी ने राम के माध्यम से समाज में नीति और आदर्शों का ढांचा खड़ा किया जबकि सूर ने कृष्ण के माध्यम से प्रेम की अबाध धारा प्रवाहित की। मीराबाई की भक्ति पद्धति सूरदास के माधुर्य भाव के करीब थी परंतु मीरा में व्यक्तिगत पीड़ा और सामाजिक विद्रोह का स्वर अधिक तीखा और एकांत था । सूरदास की भक्ति अधिक व्यापक है क्योंकि वे कृष्ण के बाल्यकाल से लेकर उनके संपूर्ण लीला-चरित्र को लोक-संस्कृति के साथ जोड़कर देखते हैं। उनके काव्य में ब्रज का किसान जीवन, गोचारण संस्कृति और लोक-उत्सवों का जैसा जीवंत चित्रण मिलता है वह अन्यत्र दुर्लभ है ।

आधुनिक संदर्भों में भी सूरदास का काव्य दर्शन अत्यंत प्रासंगिक है। आज के घोर स्वार्थ और एकाकीपन के युग में सूरदास द्वारा वर्णित 'कृष्ण-सुदामा' जैसी निःस्वार्थ मित्रता और 'माता यशोदा' जैसा पवित्र वात्सल्य प्रेम की महत्ता को पुनः स्थापित करने की प्रेरणा देता है । उनका दर्शन हमें सिखाता है कि जीवन की नश्वरता और दुखों के बीच भी ईश्वर के प्रति समर्पण और प्रेम ही वह मार्ग है जो हमें आंतरिक शांति और आनंद प्रदान कर सकता है। सूरदास ने सिद्ध किया कि भक्ति केवल पूजा-पाठ या धार्मिक कर्मकांड तक सीमित नहीं है बल्कि यह एक ऐसी जीवन-दृष्टि है जो मनुष्य को समाज के साथ जोड़ती है और उसे संकीर्णताओं से मुक्त करती है ।

निष्कर्षतः सूरदास और कृष्ण भक्ति परंपरा का यह दार्शनिक अध्ययन हमें उस सत्य की ओर ले जाता है जहाँ ब्रह्म और जीव के बीच कोई स्थायी भेद नहीं है। सूरदास ने अपनी दार्शनिक चेतना से यह प्रमाणित कर दिया कि निर्गुण

और सगुण एक ही सिक्के के दो पहलू हैं परंतु मानव हृदय के लिए सगुण रूप ही अधिक सुग्राह्य और आनंदमयी है । उन्होंने वल्लभाचार्य के शुद्धाद्वैत को 'सूरसागर' के रूप में एक ऐसी सरस देह प्रदान की जो अनंत काल तक भारतीय साहित्य और दर्शन को आलोकित करती रहेगी। उनके पद केवल गीतों का संग्रह नहीं हैं वे आत्मा की परमात्मा के साथ मिलन की उस तड़प के दस्तावेज हैं जहाँ पहुँचकर जीव और ब्रह्म एकाकार हो जाते हैं। सूरदास आज भी हिन्दी साहित्याकाश के सूर्य के समान दैदीप्यमान हैं, जिनकी रश्मियां हर युग की अंधेरी सामाजिक और आध्यात्मिक गुफाओं को प्रकाशमान करने का सामर्थ्य रखती हैं।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय. (n.d.). इकाई 10: सूरदास के काव्य का भाव-पक्ष. eGyanKosh.
2. कुमारी, पी. सूरदास का काव्य: भाव पक्ष की दृष्टि में. इंडियन स्ट्रीम्स रिसर्च जर्नल, 1(4), 1–4
3. ओझा, पी. के. सूरदास के काव्य में भाव पक्ष. शब्द ब्रह्म, 2(2), 52–54.
4. मिश्र, एन. कृष्ण काव्य परंपरा और सूरदास.
5. डॉ. उपासना जिंदल. "महाकवि सूरदास का सौन्दर्य-बोध: सूरदास के अंदर छिपी सौंदर्य की पहचान." जर्नल ऑफ एडवांसेज एंड स्कॉलरली रिसर्च इन एलाइड एजुकेशन, खंड 16, अंक 2, पृष्ठ 697-703
6. ममता सिंह और वंदना कुमार. "सूरदास का वात्सल्य प्रेम." इंटरनेशनल जर्नल ऑफ रिव्यूज एंड रिसर्च इन सोशल साइंसेज, खंड 5, पृष्ठ 12-14.